ORIGINAL RESEARCH PAPER

History

KEY WORDS:

आदिपुराण मे वाणिज्य व व्यापार

Dr. Jubeda Mirzaj Associate Professor, Department of History, M.A., Ph. D., Government PG Collage Sikar (Raj.)

प्रारम्भ से ही वैश्य वर्ण के लिए व्यापार–वाणिज्य जीविका का आलम्बन रहा है। परन्तु भारत में इस वृति के लिए जातिगत बन्धन अनिवार्य नहीं था। व्यापार वाणिज्य अन्य लोग भी कर सकते थे। साधारणतः व्यापार करने वाले को वणिग या वणिज कहा जाता था। ग्रंथ में व्यापार में लगे वणिकों का कई बार उल्लेख है। वाणिज्य की शिक्षा दी जाती थी। विशुदंग नामक वैश्य पुत्र का व्यापार की दिक्षा से युक्त होकर, उज्जयिनी नगरी में आने का उल्लेख इसकी पुष्टि करता है। धन कमाने की इच्छा से वणिक लोग इधर–उधर भ्रमण करते थे। पानी के जहाज भी आवागमन के लिए उपयोग में लिये जाते थे। जल नोकाओं का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। जहाज के लिए पोत व दानपात्र शब्दों का प्रयोग हुआ है। पुल निर्माण की प्रणाली से वे लोग भिन्न थे। वृक्षों के बड़े–बड़े लट्ठों से नावों के समूह बांधकर उसका पुल बनाकर वाहनों के साथ पार करने का उल्लेख है। वर्षाकाल में भ्रमण करने से लोग हिचकिचाते थे। बड़े–बड़े संघ व्यापार के लिए विदेशों में जाया करते थे। सार्थ बांधकर व्यापारिक यात्रा भी की जाती थी। पद्मपुराण के दूसरे पर्व (अध्याय) में सार्थवाह शब्द का प्रयोग इसी बात को घोषित करता है जिसमें इन्द्र वर्द्धमान जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहता है– आप उत्तम सार्धवाह हो, भव्य जीव रूपी व्यापारी आपके साथ निर्वाण धाम को प्राप्त करेंगे और मार्ग में दीपालपी चोर उन्हें नहीं लूट सकेंगे। इस तरह लम्बे सफर सार्ध बांधकर किये जाते थे। लम्बी दूरी व समुन्द्री मार्गों को तय करने के लिए नौकाए व बड़े–बड़े जहाज काम में लिए जाते थे। स्थल मार्ग में आवागमन का साधन गाड़ी थी।

क्रय–विक्रय किन–किन वस्तुओं का होता था इसका बहुत कम विवरण है। क्रय–विक्रय का माध्यम सम्भवतः दीनारे थी। क्योंकि संचित धन के रूप में भी दीनारों को रखा जाता था। उल्लेख है कि बेर आदि को बेचने वाले एक भद्र नामक पुरूष ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं एक दीनार का ही परिग्रह रखूंगा। कापिल्य नगर मे बाईस करोड़ दीनारों का धनी धनद नामक वैश्य रहता था। वैश्य वर्ण को धनी माना जाता था। ग्रंथ में श्रेष्ठ लोगों का उल्लेख है। व्यापार वाणिज्य में इस वर्ग द्वारा महती भूमिका निभाई जाती थी। व्यापारियों के संगठन का श्रेष्ठी प्रधान होता था।

जीविका के विभिन्न माध्यम प्रचलित थे। कुम्भकार मिट्टी के पात्र बनाकर अपनी रोटी–रोजी कमाता, कई लोग बढ़ईगिरी करके जीविका अर्जित करते थे। भस्त्रा (मशक) निर्माण करके भी पैसा कमाया जाता था। तृण, काष्ठ आदि बेचकर भी कुटुम्ब का पालन–पौषण किया जाता था। गायों का व्यापार किये जाने का उल्लेख है। कुछ लोग गणित शास्त्री (सांख्यिकी) होते थे। व्यापारियों के हिसाब–किताब को देखकर भी ये लोग अपनी आजीविका करते थे। आदिपुराण में गृहस्थों को ''शट्कर्मजीविनाम'' कह कर सम्बोधित किया गया है। आजीविका के मुख्य छः साधन इस प्रकार बताये गये है– असि (सैनिक वृत्ति) मशि (लिपिक वृति), कृषि (खेती की वृत्ति) विद्या (अध्यापन वृत्ति), वाणिज्य (व्यापार व्यवस्था वृति) शिल्प (कलाकौशल)।

विदेश व्यापार –

भारतवासी व्यापार के लिए देशान्तर भी जाते थे, इस बात के पर्याप्त संकेत है। सदृतु नगर के भावन नामक वणिक के पास चार करोड़ द्रव्य था, तो भी धन कमाने की इच्छा से वह देशान्तर गया। तत्कालिन साहित्य यथा–कादम्बरी, समराइच्चकहा, हरिवंश पुराण आदि में भी वणिकों द्वारा धन की प्राप्ति के लिए विदेश यात्राओं का वर्णन मिलता है। उद्योतनसूरि ने स्थल व जल दोनों मार्गो से व्यापारिक यात्राओं के विस्तृत विवरण दिये है, जिनसे सातवीं आठवी, शताब्दी के जल व स्थल मार्गो पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। पद्मपुराण में किसी देश या द्वीप का नाम इस संदर्भ में उपलब्ध नहीं होता, जहां से भारतवासी व्यापारिक सम्पर्क रखते थे। उत्तर पुराण में लंका से व्यापारिक सम्पर्क होने व विदश से कमाए हुए धन पर प्रवेश शुल्क देने का विवरण अवष्य मिलता है।

आलोचित पुराणों के वर्णनों से वस्त्र उद्योग की उन्नति का पता चलता है। कपड़े कपास, ऊन, रेशम आदि पदार्थों से बनते थे। बनारस एवं मथुरा रेशमी और सूती वस्त्रों के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। बुनकर, दर्जी और रंगरेज भी इस व्यवसाय से संबन्धित थे। कपड़ों की रंगाई और छपाई भी भारत में बहुत श्रेष्ठ की जाती थी। बंगाल, गुजरात और पैठन के बने हुए कपडे दूर–दूर तक प्रसिद्ध थे। अरब यात्री सुलेमान ने लिखा है कि बंगाल में बनाया गया सूती कपड़ा इतना अधिक बारीक था जैसा कि अन्य किसी देश में तैयार नहीं किया जाता था। इसके अतिरिक्त मगध, कामरूप, कलिंग, कश्मीर, मुल्तान, मध्य–प्रदेश और दक्षिण–भारत के विभिन्न स्थानों पर भी बहुत श्रेष्ठ और विभिन्न प्रकार के कपड़े तैयार किये जाते थे।3 कौलिक लोग वस्त्र बुनने का कार्य करते थे।

पुराणों में उत्तरीय के प्रसंग में सामान्यतया अंशुक का व्यवहार हुआ हैं अशुंक के ऊपर कसीदा द्वारा अनेक प्रकार के फूल–पत्ते बनाने का भी उल्लेख मिलता है। अंशुक वस्त्र के आदिपुराण में कई प्रकार बताये गये हैं जैसे सितांशुक, रक्तांशुक और नीलांशुक आदि। देशीय अशुंक के साथ ही चीन देश से आयातित अंशुक भी प्रयोग में लाया जाता था। दुकूल वस्त्र दुकूल वृक्ष की छाल के रेशे से बनता था। बंगाल का दुकूल सफेद होता था। यह श्वेत रंग का सुन्दर तथा बहुमूल्य वस्त्र था।

धातुओं में लौहा, तांबा, पीतल, टीन, चाँदी और सोने का अधिक प्रयोग होता था। सौराष्ट्र पीतल और टीन के लिए प्रसिद्ध था। लौहा कृषि के औजार, युद्ध के हथियार तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के बनाने में काम आता था। तांबा और पीतल का प्रयोग प्रायः घरेलु बर्तनों के बनाने में किया जाता था। सोना–चाँदी का प्रयोग आभूषणों को बनाने के लिए किया जाता था। धनी व्यक्ति सोने–चाँदी के बर्तन और मूर्तियाँ बनवाकर मंदिरों में दान करते थे।

पंचलौह आदि धातुओं के विविध संदर्भों तथा आकरों (खानों) के उल्लेख से ज्ञात होता है कि खानों से खनिज निकालने का भी काम होता था।

शिल्प व्यवसाय –

आलोचित पुराणों के काल में विभिन्न प्रकार के शिल्पी तथा कर्मकार अपने–अपने श्रेणी प्रधानों के आधिपत्य से जीविकोपार्जन करते थे। कृषि–ग्रामों के समान ही शिल्प व्यवसाय भी विकेन्द्रीकरण की नीति से प्रभावित हो चुके थे। तत्कालीन शिल्प सम्बन्धी भवनविन्यास, मूर्तिकला आदि के ऐश्वर्य–वैभव को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि शिल्प व्यवसाय अत्यधिक प्रगति पर था। इसी उद्देश्य से राजाओं ने आर्थिक व्यवस्था को संतुलित बनाये रखने के लिये शिल्पियों को 'श्रेणियों' के माध्यम से पूर्णतः नियन्त्रित कर रखा था। शिल्प सम्बन्धी व्यवसायियों के हस्तान्तरण की ओर संकेत करते हुए वरांग चरित में अनेक शिल्पियों को दहेज के रूप में देने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

सातवीं–आठवीं शताब्दी के समुद्रगुप्त के नाम से जाली तौर पर जारी किए गए दो ताम्रपत्रों से विदित होता है कि इन गाँवों में दूसरे किसी गाँव के किसानों तथा शिल्पियों को बसाने पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था।'अग्रहार' नामक ग्राम राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान में दिए गए वे ग्राम थे जिनका संरक्षण राजा के अधीन ही होता था। अनेक किसान तथा शिल्पी कर से बचने के लिये इन गाँवों में शरण लेना चाहते थे। इसी प्रकार अनेक देशों के शिल्पी नगरों में आकर जीवन यापन करना अधिक पसन्द करते थे। आठवीं शताब्दी के वरांग चरित में भी शिल्पियों द्वारा समृद्ध नगर में वास करने के उल्लेख मिलते हैं।इन तथ्यों से इतना स्पष्ट होता है कि निम्न वर्ग की कृषक–शिल्पी आदि जातियाँ ऐसे नगरों अथवा ग्रामों में जाकर रहना पसन्द करती थी जहाँ उन्हें जीविकोपार्जन के अधिक अवसर मिल सकें। किन्तु अर्थव्यवस्था के छिन्न–भिन्न हो जाने के भय से कृषकों तथा शिल्पियों के स्वेच्छा से स्थानान्तरण पर प्रतिबन्ध भी लगाया जाता था।

आदिपुराण में हस्त कौशल को शिल्प कर्म की संज्ञा दी गयी है। हस्त–कौशल के अर्न्तगत बढई, लौहार, कुम्हार, चमार, सोनार आदि की उपयोगी कलाएँ तो सम्मिलित थी ही, पर चित्र खींचना, फल–पत्ते काढना आदि भी इसी श्रेणी में परिगणित थी। शिल्प कला को आजीविका की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में शिल्प कर्म करने वाले को प्रतिवर्ष पांच सौ पण वेतन मिलता था। शिल्पी का महत्त्व कई दृष्टिकोणों से बहुत अधिक है। अर्थशास्त्र में कारू शिल्पी को प्रतिवर्ष एक सौ बीस पण वेतन देने की बात कही गई है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में शिल्पी शब्द की व्याख्या करते हुए स्नायक, संवाहक, अरन्तरक, रजक, मालाकार आदि को शिल्पी कहा है। उबटन बनाना, सुगन्धित पाउडर तैयार करना, चन्दन द्रव्य तैयार करना, कस्तूरी एवं कुंकुम आदि के द्वारा विभिन्न प्रकार के चूर्ण तैयार करना शिल्पियों का ही कार्य था। शिल्पी कई दृष्टियों से समाज के लिये उपयोगी समझे जाते थे।

आलोचित पुराणों में विभिन्न प्रकार के भवनों का उल्लेख आया है जिससे लगता है कि स्थापत्य कला को काफी महत्त्व दिया जाता था। राजमहलों के अतिरिक्त नागभवन, महल, मन्दिर, नाट्यशालाओं आदि के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय कुछ लोगों का प्रमुख उद्योग भवन निर्माण करना भी था। दसवीं सदी के भारत मे अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ था और राष्ट्रकूट शासक कृष्णराज प्रथम ने एलोरा के प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया था। आदिपुराण में भी चौबीस जिनेश्वर मन्दिर का उल्लेख मिलता है।

आलोचित पुराणों के उल्लिखित मुकुट, कुण्डल, बाजूबन्ध, मेखला, हार, कड़ा, अंगूठी, चूडियाँ, कटिसूत्र, नूपुर आदि गहनों से प्रकट होता है कि स्वर्णकारों एवं मणिकारों की काफी पहुँच थी।

अंजन, चन्दन और अगुरू की मालाएँ, पुष्प माला आदि के उल्लेख से यह संकेत मिलता है कि कुछ लोग सौन्दर्य प्रसाधनों के निर्माण से ही जीविका चलाते थे।

जवाहरात उद्योग उन्नत अवस्था में था। हीरे जवाहरातों का भी व्यापार किया जाता था। मोती, प्रवाल मूंगा आदि जवाहरातों के उल्लेख के साथ साथ रत्न परीक्षा का भी उल्लेख आया है।

आलोचित पुराणों के काल में जहाज एवं नाव निर्माण उद्योग उन्नतशील अवस्था में पंहुच चुका था। इनके अतिरिक्त अन्य व्यवसायों की भी जानकारी मिलती है जैसे पुरोहित, ज्योतिषी, अध्यापक आदि।

इससे संकेतित है कि प्रासंगिक काल में विभिन्न प्रकार के उद्योग–धन्धे पर्याप्त मात्रा में विकसित रहे थे। इससे स्पष्ट होता है कि पुराण काल में भारत आर्थिक रूप से सम्पन्न देश था।

व्यापार एवं वाणिज्य –

क्रय–विक्रय को व्यापार और इन गतिविधियों में संलग्न व्यक्ति को व्यापारी कहा जाता है। व्यापार करना वाणिज्य है। वाणिज्य का आर्थिक विकास की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। आदिपुराण में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओं का उल्लेख आया है तथा कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य को वार्ता कहा गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी वार्ता की व्याख्या कृषि, पशुपालन और व्यापार के रूप में की गयी है। धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्रादि खनिज पदार्थ की उत्पत्ति का साधन वार्ता है। वार्ता के अभाव में आर्थिक समृद्धि सम्भव नहीं है। जहाँ कृषि, पशुपालन और वाणिज्य व्यवसायों की उत्पत्ति न हो वहाँ देश की आर्थिक उन्नति कभी नहीं हो सकती। इसी कारण आदिपुराण71 में वाणिज्य व्यवसाय के साथ पशुपालन और पशु व्यापार को महत्त्व दिया गया है।

दैनिक उपभोग की वस्तुओं जैसे नमक, मसाले, कपड़े आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की आवश्यकता, शासक वर्ग के लिये विभिन्न विलासिता की वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आदान–प्रदान तथा व्यापारी वर्ग की लाभ प्राप्ति की आकांक्षा के कारण व्यापार

किया जाना अनिवार्य था। इस कारण विभिन्न स्थानों पर उत्पन्न वस्तुएँ देश के एक भाग से दूसरे भाग में भेजी जाती थी और विभिन्न स्थानों ने स्थानीय वस्तुओं के उत्पादन में ख्याती प्राप्त कर ली थी।

विनिमय के लिए क्रय शब्द प्रयुक्त हुआ है पुराणों में वस्तुओं के क्रय–विक्रय करने का वर्णन तो आया है परन्तु इसका माध्यम क्या था इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं आया है। कहीं–कहीं इसके बारे में थोड़ी बहुत जानकारी अवश्य मिलती है। चारूदत्त नामक वणिक् अपनी स्त्री तथा माता के आभूषणों को लेकर व्यापार के लिए जाता है तथा कपास खरीदता है। एक अन्य प्रसंग में बलदेव ने बाजार में अपना कड़ा और कुण्डल देकर उससे खाने–पीने की सामग्री खरीदी। इससे यह आभास होता है कि उस समय स्वर्णाभूषण भी क्रय–विक्रय का माध्यम रहा होगा। मुख्य रूप से कौड़ी, स्फीटक मणि एवं दीनार आदि का उल्लेख आया है।

आलोचित पुराणों में कुछ व्यापारियों के उल्लेख भी मिलते है। अयोध्या नगरी में एक सुरेन्द्र दत्त नामक सेठ रहता था जो 32 करोड़ दीनारों का धनी था तथा वह व्यापार करने के लिए बाहर चला गया।वह दीनार दान में देता था। उत्तरपुराण में उल्लेख आया है कि सुमुख सेठ ने वीरदत्त को व्यापार हेतु बारह वर्ष के लिए बाहर भेज दिया था। कोई एक वणिक अपना खरीदा हुआ माल बेचने के लिए अमूल्य मणी लेकर राजा जरासन्ध से मिलने गया। तत्कालीन समय वाणिज्य सफल था तथा राज्य व्यापारियों के क्रय–विक्रय की अधिकता से अत्यधिक सम्पन्न था।

व्यापारी दो प्रकार के बताये गये हैं – 1. स्थानीय व्यापारी 2. सार्थवाह
ग्राम–नगर के बाजारों में नित्य उपभोग की तथा अन्य सभी वस्तुएँ उपलब्ध रहती थी। राजमार्गों तथा चौराहों पर भी खाने–पीने की चीजे मिल जाया करती थी। अलग–अलग वस्तुओं के लिए अलग–अलग बाज़ार भी होते थे तथा अनेक दुकानें वस्तु–विशेष के लिए ही होती थी। स्थानीय व्यापारी के तीन प्रकार बताये गये हैं – वणिक्, गाथापति और श्रेष्ठी।

वणिक् के अन्तर्गत 'वणि', विवणि और 'कक्खपुडिय' के तीन भेद मिलते हैं। एक ही स्थान पर दुकान लगाकर बैठकर व्यापार करने वाले वणि, घूम पर व्यापार करने वाले विवाणि और बगल में माल की गठरी लेकर व्यापार करने वाले कक्खपुडिय वणिक् कहलाते थे। इस प्रकार के सामान्य व्यापारी बहुतायत में पाये जाते थे।

गाथापति और श्रेष्ठी सम्पन्न वर्ग के व्यापारी होते थे। ये व्यापार के अतिरिक्त भी बहुत सारे काम–धन्धे करते थे तथा व्यापार भी इनका वृहद् स्तर पर होता था। समाज और शासन में गाथापति और श्रेष्ठी का अच्छा मानसम्मान था।

कभी–कभी व्यापारी लोग बड़े–बड़े समूह में सार्थवाह के रूप में व्यापार के लिए जाया करते थे और अपना माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा कर काफी लाभ कमाते थे। देशी और विदेशी व्यापार को बढ़ावा देने में सार्थवाहों का अहम् योगदान रहता था। सार्थवाह अपने प्रस्थान से पूर्व अनेक तैयारियाँ करता था तथा यात्राओं से पूर्व उन्हें राजाओं से भी अनुमति लेनी पड़ती थी तथा राजा भी बीहड़ और भयानक रास्तों में उनकी सुरक्षा के लिए अपने सुरक्षाकर्मी भी नियुक्त करता था। सार्थवाह स्वयं भी सुरक्षा के व्यापक प्रबन्ध करते थे। सार्थवाह अपने खान–पान और सुख–सुविधाओं का पूरा ख्याल रखते थे। सार्थवाह अधिकांश रूप से विभिन्न प्रकार के मोती माणिक्यादि तथा सोने–चाँदी आदि का व्यापार करते थे। 'सार्थवाह धन, ऐश्वर्य तथा सेना, गुप्तचर आदि से सम्पन्न होते थे।सार्थवाहों का वर्ग वर्षों में वापस लौटता था अतः उनके साथ क्रय–विक्रय की वस्तुओं के अतिरिक्त भोजन, पान आदि भी प्रचुर परिमाण में संचित रहते थे। हमारे इस कथन की पुष्टि मेरूकदत्त नामक सेठ के आख्यान से होती है। यह सेठ व्यापारी, समुदायसंघ का अधिपति था और इसी के परामर्श से संघ का संचालन होता था। दुष्कर और विकट राहों पर दो–दो सार्थवाह भी साथ–साथ चलते थे।

श्रीभूति नामक पुरोहित सिंहपुर नगर की समस्त दिशाओं में भाण्डशालाएं बनवाकर व्यापारी वर्ग का बहुत विश्वास पात्र बन गया था। पद्मखण्ड नामक नगर में सुमित्र दत्त नामक वणिक रहता था। वह अपने पाँच रत्न श्रीभूति पुरोहित के पास रखकर जहाज द्वारा कहीं गया था।

पशुओं का व्यापार भी किया जाता था। ग्वाले गाय, बैल आदि पशुओं को खरीदते थे और अधिक कीमत पर उन्हें बेचते थे। इस खरीद विक्रय में एक प्रतिभू जामिनदार भी होता था, जिसकी जमानत पर मवेशी को खरीदा जाता था। अतएव यह स्पष्ट है कि व्यापार – व्यवसाय का कार्य पर्याप्त समृद्ध था।

इस काल में व्यापार उन्नत अवस्था में था। विदेशों से व्यापार किया जाता था तथा व्यापार के लिये विदेश भी जाया जाता था। व्यापार स्थलमार्ग और जलमार्ग दोनों द्वारा सम्पादित होता था। अन्तः देशीय व्यापार में हाथी, बैल, घोडे आदि साधनों का प्रयोग एवं विदेशी व्यापार में नाव, जहाजों का प्रयोग होता था। आदिपुराण में पतन पत्तन और द्रोण मुख नगरों के उल्लेख से जलमार्ग से व्यापार का संकेत मिलता है। चारूदत्त की व्यापार यात्रा में जहाज के छह बार फटने का उल्लेख है। श्रीपाल की जलयात्राएँ भी व्यवसायियों के जल व्यापार को सूचित करती है। इसी सन्दर्भ में व्यापारियों की नौकाओं का मार्ग में टूट जाना, आँधी तूफानों में नौकाओं का फंस जाना आदि समुद्री व्यापारियों की अनेक मार्गगत कठिनाइयों का उल्लेख भी आया है।

पुराणों से यह ज्ञात नहीं होता है कि दो युद्धरत देशों के बीच यातायात एवं वाणिज्य – व्यापार सम्बन्ध कैसे सम्पन्न होते थे। संभवतया आवागमन निषिद्ध या नियन्त्रित हो जाता हो क्योंकि कुछ उल्लेखों से ऐसा संकेत मिलता है कि राज्य में विदेशियों पर दृष्टि रखने के लिए कर्मचारी नियुक्त होते थे और अमित्र देशों में आवागमन पर प्रतिबन्ध रहता था। शान्ति काल में वणिक्–व्यापारियों द्वारा अपनी राज्य सीमा से बाहर अन्य देशों में व्यापार करने से स्पष्ट होता है कि विभिन्न राज्यों में शान्तिकाल में आवागमन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता था वाणिज्य–व्यापार अबाध गति से होता था।